

धर्म की सार्थकता के प्रश्न पर मैं बात करना चाहूंगा, ताकि हम सिर्फ इसकी शाब्दिक व्याख्या तक सीमित न रह कर इसे गहनता से समझ सकें। परंतु इससे पहले कि हम इस प्रश्न में गहराई से उतरें, हमें इस बारे में एकदम स्पष्ट होना होगा कि धार्मिक मन क्या है तथा मन की वह क्या अवस्था है, जो यथार्थपरक ढंग से धर्म के संपूर्ण प्रश्न की जांच-पड़ताल करती है।

मुझे यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि अलगाव और एकाकीपन का अंतर समझा जाए। हमारे अधिकांश दैनिक क्रिया-कलाप हमारे स्वयं के आसपास ही केंद्रित होते हैं; ये हमारे विशिष्ट दृष्टिकोण, विशिष्ट अनुभवों तथा हमारी स्वभावगत विलक्षणताओं पर आधारित होते हैं। हम सदैव अपने परिवार, अपने काम, जो कुछ हम पाना चाहते हैं, उसके हिसाब से तथा अपने भयों, आशाओं और निराशाओं के संदर्भ में सोचा करते हैं। यह सब प्रत्यक्षतः आत्म-केंद्रित है और यह आत्म-अलगाव की स्थिति लाता है, जैसा कि हम अपने रोज़ के जीवन में देख सकते हैं। हमारी अपनी गुप्त इच्छाएं, अपने प्रच्छन्न लक्ष्य तथा महत्वाकांक्षाएं होती हैं और हम कभी किसी से गहराई से नहीं जुड़ पाते, न अपनी पत्नी से, न अपने पति से और न ही अपने बच्चों से। इस प्रकार यह आत्म-अलगाव, हमारी रोज़ की ऊब, दैनिक जीवन की कुंठाओं तथा क्षुद्रताओं से पलायन का परिणाम है। यह अकेलेपन के उस जबरदस्त एहसास से पलायन करने का परिणाम भी है जो तब होता है, जब हम अचानक हर चीज़ से कटा हुआ महसूस करते हैं, जब सब कुछ हमसे बहुत दूर होता है, और किसी के साथ कोई संवाद, कोई संबंध नहीं होता है। मेरे ख्याल से हममें से अधिकतर लोगों ने--यदि हम अपने अस्तित्व की प्रक्रिया के प्रति जरा भी सचेत हैं--इस अकेलेपन को बहुत शिद्धत से महसूस किया होगा।

इस अकेलेपन के कारण, अलगाव के इसी एहसास की वजह से हम किसी ऐसे से अपना तादात्म्य स्थापित करने की कोशिश करते हैं, जो मन से श्रेष्ठतर हो--वह देश या राज्य हो सकता है, अथवा एक आदर्श या फिर ईश्वर क्या है, इसकी कोई धारणा हो सकती है। कुछ महान अथवा अनश्वर, कुछ ऐसा, जो हमारे अपने विचारों के क्षेत्र से बाहर हो, उससे अपना तादात्म्य कर लेना ही सामान्यतया धर्म कहलाता है, तथा यह हमें विश्वासों, मताग्रहों, कर्मकांडों, उसी चीज़ के अलग-अलग पहलुओं में विश्वास रखने वाले प्रतिस्पर्द्धारत समूहों की अलगाव गहराने वाली दौड़ों की तरफ ले जाता है; इस तरह, जिसे हम धर्म कहते हैं वह और अधिक अलगाव ही पैदा करता है।

व्यक्ति यह भी देखता है कि कैसे यह धरती प्रतिस्पर्द्धा में लगे राष्ट्रों में बंटी है, जिनकी अपनी-अपनी संप्रभुतापूर्ण सरकारें तथा आर्थिक नाकाबंदियां हैं। यद्यपि हम सब मनुष्य हैं, लेकिन हमने अपने और अपने पड़ोसियों के बीच राष्ट्रीयता की, नस्ल, जाति और वर्ग की दीवारें खड़ी कर ली हैं, जिनसे अलगाव और अकेलापन ही उत्पन्न होता है।

जो मन अकेलेपन में, अलगाव की इस अवस्था में जकड़ा हुआ है, संभवतः कभी नहीं समझ पाएगा कि धर्म क्या है। यह विश्वास कर सकता है, इसके अपने कुछ सिद्धांत, अवधारणाएं, सूत्र हो सकते हैं; जिसे यह ईश्वर कहता है उसके साथ अपना तादात्म्य बिटाने की चेष्टा यह कर सकता है; परंतु मुझे लगता है कि धर्म का किसी विश्वास, किसी पुरोहित, किसी धर्मस्थल, अथवा किसी तथाकथित पावन पुस्तक से कुछ लेना-देना नहीं है। धार्मिक मन की अवस्था तभी समझी जा सकती है, जब हम समझना आरंभ करते हैं कि सौंदर्य क्या है; तथा सौंदर्य की इस समझ तक पूर्णतया एकाकी होकर ही पहुंचा जा सकता है। केवल तब, जब मन पूर्णतया एकाकी होता है, यह जान पाता है कि सौंदर्य क्या है, किसी अन्य स्थिति में नहीं।

एकाकी होना निश्चित ही अलगाव नहीं है और यह अनूठापन भी नहीं है। अनूठा होना तो एक तरह से विशिष्ट होना भर है, जबकि पूर्णतया एकाकी होना असाधारण संवेदनशीलता, प्रज्ञा व समझ की मांग करता है। पूरी तरह से एकाकी होने में किसी भी प्रकार के प्रभाव से मन का मुक्त होना निहित है, अतएव यह समाज द्वारा अदूषित है; तथा धर्म क्या है, यह समझने के लिए एकाकी होना आवश्यक है--स्वयं इस बात का पता लगाना ही धर्म है कि क्या कुछ ऐसा है, जो अनश्वर है, समय से परे है।

जैसी कि स्थिति इस समय है, हमारा मन हज़ारों सालों के प्रभाव का, जीव-वैज्ञानिक, सामाजिक, पर्यावरणजनित, जलवायु व आहारजन्य एवं अन्य प्रभावों का, परिणाम है। यह बात तो स्पष्ट ही है। उस भोजन से जो आप खाते हैं, उस समाचार-पत्र से जो आप पढ़ते हैं, अपने पति या पत्नी से, अपने पड़ोसी से, राजनीतिज्ञों से, रेडियो व टेलीविजन से, और दूसरी हज़ार चीज़ों से आप प्रभावित होते रहते हैं। जो कुछ भी अनेकों विभिन्न दिशाओं से आपके चेतन और अचेतन मन में उड़ेंला जा रहा है, उससे आप लगातार प्रभावित हो रहे हैं। क्या इन अनेकानेक प्रभावों के प्रति इतना सजग हो पाना संभव नहीं है कि इनमें से किसी भी प्रभाव में व्यक्ति फंसे नहीं और इन सबसे अदूषित बना रहे? अन्यथा मन अपने वातावरण का उपकरण भर हो कर रह जाता है। जिसके बारे में यह सोचता है कि यही ईश्वर या शाश्वत सत्य है, उसकी यह कोई छवि निर्मित कर सकता है तथा उसमें विश्वास रख सकता है, परंतु यह छवि अभी भी परिवेश की मांगों, तनावों, अंधविश्वासों, दबावों से ही ढली-बनी है, और इस पर विश्वास करना धार्मिक मन की स्थिति तो कदापि नहीं है।

आप एक ईसाई के रूप में दो हज़ार वर्षों की अवधि में मनुष्य द्वारा निर्मित चर्च, उसके पुरोहितों, सिद्धांतों एवं विधियों के प्रभाव में पले-बढ़े हैं। बचपन में आपका बपतिस्मा कर दिया गया, जैसे-जैसे आप बड़े हुए आपको बताया गया कि क्या विश्वास करना है, आप संस्कारित किए जाने और मत-आरोपण की सारी प्रक्रिया से गुज़रे। ज़ाहिर है कि इस प्रचारवादी धर्म का दबाव बड़ा प्रबल है, विशेष तौर पर इसलिए क्योंकि यह सुसंगठित है, तथा शिक्षा, छवियों की उपासना व भय के माध्यम से मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालने में और दूसरे हज़ार तरीकों से मन को संस्कारित करने में यह समर्थ है। पूरब में भी सभी जगह लोग अपनी आस्थाओं, स्थापित मतों, अंधविश्वासों और दस हज़ार साल या उससे भी पहले से चली आ रही परंपरा के संस्कारों से बेतरह ग्रस्त हैं।

जब तक मन के पास स्वतंत्रता नहीं है, तब तक उसे यह पता नहीं चल सकता कि सत्य क्या है, और स्वतंत्रता होने का अर्थ है, प्रभाव से मुक्त होना। आपको अपनी राष्ट्रीयता के प्रभाव, विश्वासों और सिद्धांतों सहित अपने संप्रदाय के प्रभाव से मुक्त होना होगा, तथा आपको लालच, डह, भय, शोक, महत्त्वाकांक्षा, प्रतिस्पर्द्धा, दुश्चिंता से भी मुक्त होना होगा। यदि मन इन सब चीज़ों से, बाहर व अपने भीतर के विविध दबावों से मुक्त नहीं है, तो वह एक विरोधाभासी, असंतुलित अवस्था निर्मित कर लेगा, और ऐसा मन संभवतः इस बात का अन्वेषण नहीं कर सकता कि सत्य क्या है, अथवा क्या कुछ ऐसा है, जो समय से परे है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मन के लिए समस्त प्रभाव से मुक्त होना कितना आवश्यक है। क्या ऐसा होना संभव है? यदि यह संभव नहीं है, तो उस शाश्वत, अनाम, परम का अन्वेषण हो नहीं सकता है। स्वयं यह पता लगाने के लिए कि यह संभव है या नहीं, हमें इन अनेक प्रभावों के प्रति केवल इस जगह ही नहीं, बल्कि अपनी रोज़ाना की ज़िन्दगी में भी सजग होना होगा। हमें अवलोकन करना होगा कि किस तरह से यह प्रभाव मन को दूषित कर रहे हैं, कैसे उसे ढाल रहे हैं, संस्कारबद्ध कर रहे हैं। ज़ाहिर है कि

हम हर समय मन पर डाले जा रहे अलग-अलग तरह के अनेक प्रभावों के प्रति सजग नहीं रह सकते, परंतु हम समस्त प्रभाव से मुक्त होने का महत्त्व देख सकते हैं, और मेरे ख्याल से यही इस मामले में कांटे की बात है; और जब एक बार हम इसकी अनिवार्यता को समझ लेते हैं, तो अचेतन किसी भी प्रभाव के प्रति सजग रहता है, भले ही चेतन मन अक्सर ऐसा न कर पाए।

क्या मैं अपनी बात स्पष्ट कर पा रहा हूँ? मैं बताना चाह रहा हूँ कि असाधारण रूप से सूक्ष्म प्रभाव आपके मन को आकार देते जा रहे हैं, तथा वह मन जिसे प्रभाव आकार दे रहे हों जो हमेशा समय के क्षेत्र से ही आते हैं, ऐसा मन संभवतः कभी शाश्वत को नहीं खोज पाता, वह यह पता कभी नहीं लगा पाता कि शाश्वत जैसा कुछ होता भी है या नहीं। अतः प्रश्न तब यह है : यदि चेतन मन इन सभी अनेकानेक प्रभावों के प्रति सजग न हो पाए तो इसे करना क्या होगा? यदि आप स्वयं के समक्ष सचमुच ही गंभीरतापूर्वक यह प्रश्न रखें, ताकि इसे आपके संपूर्ण अवधान, पूरे ध्यान की दरकार हो, तो आप पाएंगे कि आपका वह अचेतन हिस्सा जो तब भी पूरी तरह व्यस्त नहीं होता है जब मन की ऊपरी सतह काम में लगी होती है, वह अचेतन मन काम संभाल लेता है और भीतर आ रहे सभी प्रभावों का निरीक्षण करता रहता है।

मेरे विचार से इस बात को समझ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यदि आप प्रभावित होने का सिर्फ प्रतिरोध कर रहे हैं, अथवा उससे अपना बचाव कर रहे हैं, तो वह प्रतिरोध, जो एक प्रतिक्रिया है, मन में और अधिक संस्कार निर्मित करता है। प्रभावों की इस समस्त प्रक्रिया की समझ प्रयासरहित होनी चाहिए, उसमें तत्काल बोध की गुणवत्ता होनी चाहिए। यह इस प्रकार है : यदि आप प्रभावित न होने के अगाध महत्त्व को वस्तुतः स्वयं देख पाते हैं, तो जिस समय आप दूसरे कामों में व्यस्त होते हैं, तब आपके मन का एक खास हिस्सा इस मामले को अपने हाथ में ले लेता है तथा मन का वह भाग एकदम सतर्क, सक्रिय, सावधान, जागरूक रहता है। अतः महत्त्व इस बात का है कि किसी भी परिस्थिति, किसी भी व्यक्ति से प्रभावित न होने की गहन अर्थपूर्णता को हम तत्काल देख पाएं। वास्तविक मुद्दा यही है--न कि प्रभावों का प्रतिरोध कैसे करें अथवा प्रभावित हो जाने की स्थिति में आप क्या करें। एक बार यह केंद्रीय तथ्य आपकी पकड़ में आ जाए, तब आप पाएंगे कि मन का एक हिस्सा हमेशा सावधान है, देख रहा है, स्वयं पर पड़ रहे प्रत्येक प्रभाव को पोंछ डालने के लिए सदैव तत्पर है, भले ही वह प्रभाव चाहे जितना सूक्ष्म क्यों न हो, समस्त प्रभावों से मुक्त हो जाने पर एकाकीपन का आगमन होता है, जो अलगाव से पूरी तरह भिन्न है। यह एकाकीपन आवश्यक है, क्योंकि सौंदर्य समय के क्षेत्र से बाहर होता है और एक पूर्णतः एकाकी मन ही यह जान पाता है कि सौंदर्य क्या है।

हममें से अधिकांश के लिए सौंदर्य अनुपात, आकृति, आकार, रंग-रूप का विषय है। हम किसी भवन, वृक्ष, पर्वत या नदी को देखते हैं और कह देते हैं कि यह सुंदर है; परंतु अभी भी एक बाहरी व्यक्ति, एक अनुभवकर्ता ही है जो इन सब चीजों को देख रहा है, और इसलिए जिसे हम सुंदरता कहते हैं, वह समय के क्षेत्र के भीतर ही है। लेकिन मुझे महसूस होता है कि सौंदर्य समय से परे है तथा सौंदर्य को जानने के लिए अनुभवकर्ता का समापन आवश्यक है। अनुभवकर्ता अनुभव का एक संग्रह मात्र है, जिसके आधार पर वह निर्णय लेता है, मूल्यांकन करता है, सोचता है। जब मन किसी चित्र को देखता है, या संगीत सुनता है या फिर किसी नदी के द्रुतगामी प्रवाह को देखता है, तो सामान्यतया वह संचित अनुभव की पृष्ठभूमि से ही ऐसा कर रहा होता है, वह अतीत से, समय के क्षेत्र से ही देख रहा होता है--और मेरे लिए यह सौंदर्य को जान लेना कतई नहीं है। सौंदर्य को जान लेना, जो कि यह पता लगा लेना है कि शाश्वत क्या है, केवल तभी संभव है, जब मन पूरी तरह से एकाकी होता है--और उसका इस बात से कुछ भी लेना-देना

नहीं है कि पुरोहित क्या कहते हैं, स्थापित धर्म क्या कहते हैं। मन का पूरी तरह समाज से, लालच, डाह, दुर्श्चिता, भय के मनोवैज्ञानिक ढांचों से अप्रभावित, असंक्रमित होना आवश्यक है। मन को इस सब से मुक्त होना होगा, यही मुक्ति एकाकीपन लाती है, तथा एकाकी होने की अवस्था में ही मन उसे जान पाता है जो समय के क्षेत्र से परे है।

सौंदर्य तथा वह जो शाश्वत है, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। आप चित्र बना सकते हैं, लिख सकते हैं, प्रकृति का अवलोकन कर सकते हैं, किंतु यदि किसी भी रूप में स्व की गतिविधि--विचार की कोई भी आत्म-केंद्रित हलचल विद्यमान है, तो उस स्थिति में आप जिसका बोध कर पाते हैं, वह अब सौंदर्य नहीं होता। क्योंकि वह अभी भी समय के ही क्षेत्र में है; और यदि आप सौंदर्य को नहीं समझ लेते, तो आप संभवतः यह अन्वेषण कभी नहीं कर पाएंगे कि शाश्वत क्या है, क्योंकि ये दोनों साथ-साथ ही होते हैं। जो शाश्वत है, अनश्वर है, उसका पता लगाने के लिए आपके मन को समय से मुक्त होना होगा--समय अर्थात् परंपरा, संचित ज्ञान एवं अतीत का अनुभव। प्रश्न यह नहीं है कि आप किस पर विश्वास अथवा अविश्वास करते हैं--यह तो अपरिपक्व, एकदम बचकानी बात है तथा इसका इस विषय से कुछ भी संबंध नहीं है। लेकिन एक मन जो इस बारे में गंभीर है, जो वास्तव में पता लगाना चाहता है, वह अलगाव की आत्म-केंद्रित गतिविधि को त्याग देगा तथा इस प्रकार एक ऐसी अवस्था में आ जाएगा जिसमें वह पूर्णतः एकाकी होगा। पूर्णतया एकाकी होने की इस अवस्था में ही सौंदर्य का, उस शाश्वत का अवबोध हो पाता है।

देखिए, शब्द खतरनाक चीज़ें हैं, क्योंकि वे प्रतीक होते हैं और प्रतीक वास्तविक नहीं होते। वे एक अर्थ, एक धारणा संप्रेषित करते हैं, किंतु शब्द वह वस्तु नहीं होता। इसलिए जब मैं शाश्वत की बात कर रहा हूँ, तो आपको यह पता लगा लेना होगा कि कहीं आप बस मेरे शब्दों से प्रभावित तो नहीं हो रहे हैं, अथवा किसी विश्वास के शिकार तो नहीं बन रहे हैं--ऐसा होना तो बेतुकी बात होगी।

यह पता लगाने के लिए कि क्या शाश्वत जैसा कुछ होता भी है, हमें यह समझना होगा कि समय क्या होता है। समय एक अत्यधिक असाधारण घटना है--और मैं क्रमिक समय, घड़ी वाले समय की बात नहीं कर रहा, जो प्रत्यक्ष ही है और आवश्यक भी। मैं समय की बात मानसिक निरंतरता के रूप में कर रहा हूँ। और क्या उस निरंतरता के बिना रह पाना संभव है? निरंतरता देने वाला, वस्तुतः विचार ही है। यदि कोई लगातार किसी चीज़ के बारे में सोचता रहता है, तो उसे निरंतरता मिल जाती है। यदि कोई अपनी पत्नी का चित्र रोज़ देखता रहे, तो वह उसे निरंतरता दे रहा होता है। क्या इस संसार में किसी भी क्रिया को ऐसी निरंतरता दिए बगैर रहना संभव है, ताकि हर क्रिया नये सिर से संपन्न हो? अर्थात् क्या मैं पूरे दिन, प्रत्येक क्रिया के प्रति मृत हो सकता हूँ, ताकि मन उसे कभी संचित न करे अतएव अतीत द्वारा कभी दूषित न हो, अपितु सदैव नूतन, ताज़ा-दम व निर्दोष रहे? मेरा कहना है कि ऐसा संभव है, व्यक्ति इस प्रकार से जी सकता है--परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह आपके लिए भी वास्तविकता है। आपको इसे स्वयं ही खोज लेना होगा।

तो व्यक्ति यह देखना शुरू करता है कि मन को पूरी तरह एकाकी होना होगा, किंतु अलग-थलग नहीं। संपूर्ण एकाकीपन की इस अवस्था में एक असाधारण सौंदर्य का, किसी ऐसे तत्त्व का बोध होता है, जो मन द्वारा निर्मित नहीं है। इसका कुछ सुरों को मिला पाने से या तस्वीर बनाने के लिए कुछ रंगों का इस्तेमाल कर पाने से कोई संबंध नहीं है, किंतु चूंकि यह एकाकी है, अतः मन सौंदर्य में ही है और इसीलिए यह पूर्णतः संवेदनशील है, तथा पूर्णतः संवेदनशील होने से इसमें प्रज्ञा है। इसकी प्रज्ञा चालाकी या जानकारी से निर्मित नहीं है, न ही यह कुछ कर पाने की क्षमता है। मन प्रज्ञावान इस अर्थ में है कि अब वह किसी से

शासित, प्रभावित नहीं हो रहा तथा निडर है। परंतु इस स्थिति में होने के लिए मन में अपने आपको रोज़ नया कर लेने की योग्यता होनी चाहिए, जिसका अर्थ है अतीत के प्रति, वह सब जो इसने जाना है उसके प्रति, प्रतिदिन मृत होना।

जैसा कि मैंने कहा, शब्द, प्रतीक, यथार्थ नहीं होता। पेड़ शब्द पेड़ नहीं होता, अतः शब्दों में न उलझने के लिए व्यक्ति को बहुत सतर्क रहना पड़ता है। जब मन शब्द से, प्रतीक से मुक्त होता है, तो यह आश्चर्यजनक रूप से संवेदनशील बन जाता है, और तभी यह अन्वेषण की स्थिति में होता है।

आखिरकार मनुष्य बहुत लम्बे समय से--पुराने ज़माने से लेकर अब तक--इस तत्त्व की खोज करता रहा है। वह कुछ ऐसा खोज लेना चाहता है, जो मानव-निर्मित न हो। एक प्रजावान मनुष्य के लिए संगठित धर्म का कोई अर्थ नहीं है, तो भी संगठित धर्म हमेशा कहते रहे हैं कि ऐसा कुछ है जो सबके परे है; मनुष्य सदा उसकी खोज में रहा है, क्योंकि वह निरंतर शोक, दुर्दशा, भ्रांति और हताशा से घिरा रहा है। सदा अनित्यता की अवस्था में रहने के कारण वह ऐसा कुछ पा लेना चाहता है जो नित्य स्थायी हो, जो बना रहे, टिका रहे, जिसमें निरंतरता हो, तथा इसीलिए उसकी तलाश सदैव समय के क्षेत्र के भीतर ही रही है। परंतु जैसा कि हम देख ही सकते हैं कि स्थायी कुछ भी नहीं है। हमारे संबंध, हमारे नौकरी-बंधे सब कुछ अस्थायी हैं। अपने इसी अस्थायित्व के अतिशय भय के कारण हम कुछ ऐसा स्थायी तत्त्व खोजते रहते हैं, जिसे हम अनश्वर, शाश्वत अथवा कुछ और कह सकें। परंतु स्थायी, अनश्वर, शाश्वत की यह तलाश मात्र एक प्रतिक्रिया है अतएव यह प्रामाणिक नहीं है। केवल तभी, जब मन निश्चित होने की इस इच्छा से मुक्त होता है, वह इस बारे में अन्वेषण आरंभ कर सकता है कि क्या कुछ ऐसा है जो शाश्वत है, जो समय और आकाश से परे है, विचारक एवं उसके सोचने और खोजने के विषय से परे है। इस सबका अवलोकन करने और समझने के लिए पूर्ण अवधान और उस अवधान से आने वाले अनुशासन के लचीले गुण की आवश्यकता होती है। ऐसे अवधान में न कोई विचलन है, न तनाव है, न किसी विशेष दिशा में होने वाली हलचल है, क्योंकि ऐसी प्रत्येक हलचल, प्रत्येक प्रयोजनवृत्ति या तो अतीत या फिर वर्तमान के प्रभाव का परिणाम है। अवधान की उस प्रयासरहित स्थिति में ही स्वातंत्र्य का, मुक्ति का असाधारण बोध होता है, और केवल तभी--जब मन पूर्णतः रिक्त, मौन, निश्चल होता है--मन उसे खोज पाने में सक्षम होता है, जो शाश्वत है।

जो कुछ इस सुबह कहा गया है, संभवतः आप उस बारे में प्रश्न करना चाहें।

प्रश्न : निश्चित होने की इच्छा से मुक्ति कैसे हो?

कृष्णमूर्ति : कैसे शब्द एक विधि की ओर संकेत करता है, है कि नहीं? यदि आप भवन-निर्माता हैं और मैं आपसे पूछूँ कि मकान कैसे बनाते हैं, तो आप मुझे बता तो सकते हैं कि करना क्या है, क्योंकि उस काम को शुरू करने का एक तरीका है, एक व्यवस्था है, एक ढंग है। किंतु किसी विधि अथवा प्रणाली का अनुसरण पहले ही मन को संस्कारित कर चुका होता है, इसलिए कैसे शब्द के प्रयोग की कठिनाई को जरा देख लें।

हमें इच्छा को भी समझना होगा। इच्छा क्या है? जैसा कि मैं उस दिन कह रहा था, पहले देखना या प्रत्यक्ष करना होता है, उसके बाद संपर्क अथवा स्पर्श, तब संवेदन और अंत में उसका उदय होता है जिसे हम इच्छा कहते हैं। निश्चित रूप से यही सब घटित होता है। कृपया इसे बारीकी से समझें। मान लीजिए, हम

एक सुंदर सी कार देखते हैं। देखने की उस क्रिया से ही, कार को स्पर्श किए बिना भी, संवेदन होता है, कुछ महसूस होता है, जिससे उस कार को चलाने, उसकी मालिकियत की इच्छा निर्मित हो जाती है। हमारा वास्ता इस बात से नहीं है कि इच्छा का प्रतिरोध कैसे करें अथवा उससे मुक्त कैसे हों, क्योंकि जो आदमी इच्छा का प्रतिरोध करता है और सोचता है कि वह इच्छा से मुक्त हो गया है, वह वास्तव में जड़ हो चुका है, मर चुका है। महत्त्वपूर्ण बात इच्छा की पूरी प्रक्रिया को जान लेना है, जिसका अर्थ है, इसके महत्त्व और इसकी पूरी महत्त्वहीनता, दोनों को जान लेना। हमें पता यह लगाना है कि वह क्या है, जो इच्छा को निरंतरता देता है, न कि यह कि इच्छा का अंत कैसे हो।

इच्छा को निरंतरता कौन देता है? यह विचार ही है, है न? पहले कार को देखना घटित होता है, फिर संवेदन, जिसके पीछे इच्छा आती है; और यदि विचार हस्तक्षेप न करे, तथा यह कह कर इसे निरंतरता न दे, “मेरे पास यह कार होनी चाहिए, मैं इसे हासिल कैसे कर लूं?” तो इच्छा का अंत हो जाएगा। आप समझ रहें हैं? मेरा जोर इस बात पर नहीं है कि इच्छा से मुक्ति मिल जानी चाहिए--बल्कि बात इसके उलट है। पर आपको इच्छा के पूरे ढांचे को समझ लेना होगा, और तब आप पाएंगे कि अब इच्छा की कोई निरंतरता नहीं है, पर कुछ है जो सर्वथा भिन्न ही है।

अतः महत्त्व इच्छा का नहीं, बल्कि इस बात का है कि हम इच्छा को निरंतरता देते रहते हैं। उदाहरण के लिए हम कामवासना को विचार के द्वारा, कल्पनाओं और चित्रों के माध्यम से, सनसनी और यादों के ज़रिये निरंतरता दिया करते हैं; इसके बारे में सोच-सोच कर हम स्मृति को चलायमान रखते हैं, तथा यह सब कामवासना को, इंद्रियों के महत्त्व को सातत्य दिये रहता है। ऐसा नहीं है कि इंद्रियां महत्त्वपूर्ण नहीं हैं : वे महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन हम इंद्रियों के सुख को एक निरंतरता देते हैं, जो हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन जाती है। तो प्रासंगिकता इच्छा से मुक्ति की नहीं, अपितु इच्छा की संरचना को समझने, यह समझ लेने की है कि कैसे विचार उसको निरंतरता देता रहता है--सारी बात इसी में आ जाती है। तब मन स्वतंत्र होता है, मुक्त होता है, और आपको इच्छा से मुक्ति की तलाश नहीं करनी पड़ती। जिस क्षण आप इच्छा से मुक्ति की तलाश में पड़ते हैं, आप द्रंढ की गिरफ्त में आ जाते हैं। हर बार जब भी आप किसी कार को, किसी स्त्री को, या किसी भी ऐसी चीज़ को देखते हैं, जो आपको आकर्षित करती हो, तो विचार फौरन घुस आता है और इच्छा को निरंतरता देने लगता है, और तब यह सब एक अंतहीन समस्या बन जाया करता है।

महत्त्व ऐसा जीवन जीने का है, जिसमें कोई प्रयास न हो, एक भी समस्या न हो; और बिना किसी समस्या के आप तभी जी सकते हैं, जब आप प्रयास की प्रकृति को समझ लें तथा इच्छा की पूरी संरचना को एकदम स्पष्टता से देख लें। हममें से ज्यादातर लोगों की हजार समस्याएं हैं, एवं समस्याओं से मुक्त होने के लिए हमें प्रत्येक समस्या को उसके उत्पन्न होते ही तुरंत समाप्त करने में सक्षम होना होगा। मेरे ख्याल से हमने इस बारे में पर्याप्त बात कर ली है तथा इस समय मैं इस विषय में और नहीं जाना चाहूंगा। परंतु मन के लिए यह पूर्णरूपेण अनिवार्य है कि इसमें समस्याएं बिलकुल न रह पाएं, ताकि यह एक प्रयासरहित जीवन जी सके। निश्चित ही, केवल ऐसा मन ही धार्मिक मन है, क्योंकि इसने दुख तथा दुख के अंत को समझ लिया है; यह निर्भय है, इसलिए अपना आलोक यह स्वयं है।

सानेन] 2 अगस्त 1964